Shodhpith
International Multidisciplinary
Research Journal
(International Open Access, Peer-reviewed & Refereed Journal)
(Multidisciplinary, Bimonthly, Multilanguage)
Volume: 2 Issue: 3 May-June 2026

गढ़वाली लोकगीतों में प्रकृति–वर्णनः ऋतु–गीतों के विशेष संदर्भ में

रूपेश भट्ट

शोधार्थी, भाषा विभाग, राहुल सांस्कृत्यायन सुभारती स्कूल ऑफ लिंग्विस्टिक एंड फॉरेन लैंग्वेजिज, स्वामी विवेकानन्द सुभारती विश्वविद्यालय, सुभारतीपुरम, मेरठ, उत्तर प्रदेश

Article Info: *(Recieved- 10/03/2026, Accept- 10/4/2026, Published- 10/05/2026)*

DOI- 10.64127/Shodhpith.2026v2i3001

सारांश

गढ़वाली लोकसाहित्य हिमालयी जीवन–धारा, प्रकृति–अनुभूति और जन–जीवन की सांस्कृतिक स्मृति का एक जीवंत दस्तावेज़ है। इस साहित्य में प्रकृति केवल पृष्ठभूमि नहीं, बल्कि जीवन की सहयात्री, प्रेरणा–स्रोत और सांस्कृतिक संचेतना की आधारशिला के रूप में उपस्थित है। प्रस्तुत शोध–पत्र में गढ़वाली लोकगीतों में प्रकृति–वर्णन की विशेषताओं का अध्ययन ऋतु–गीतों के संदर्भ में किया गया है। ऋतु–चक्र के अनुसार गढ़वाली गीतों में बसंत के उल्लास, ग्रीष्म के श्रम और तपन, वर्षा के पुनरुत्थान, शरद के फसल–आनंद, हेमंत की ठिठुरन और शीत की कठोरता का सजीव चित्र मिलता है। इन गीतों में बुराँश, सरसों, नदियों, बादलों, हिमालयी शृंखलाओं, वर्षा–ध्वनियों और कृषि–चक्र से संबंधित प्राकृतिक दृश्यों के माध्यम से मनुष्य और प्रकृति के सामंजस्यपूर्ण संबंध को अभिव्यक्त किया गया है। विशेष रूप से स्त्री–गीतों में प्रकृति के साथ संवाद, श्रम की लय, पर्यावरणीय चेतना और पारिस्थितिक संतुलन के संकेत स्पष्ट दिखाई देते हैं। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि गढ़वाली ऋतु–गीत केवल भावात्मक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि लोक–ज्ञान, पारिस्थितिक नैतिकता और हिमालयी जीवन के सतत् अनुभवों के संवाहक हैं। ये गीत मानव और प्रकृति के सहजीवी संबंधों को प्रतिपादित करते हुए पर्यावरण–संरक्षण की पा. रंपरिक समझ को उजागर करते हैं। इस प्रकार गढ़वाली लोकगीत, विशेषतः ऋतु–गीत, पर्यावरणीय संस्कृति और लोकचेतना के महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में स्थापित होते हैं।

गढ़वाल क्षेत्र की सांस्कृतिक स्मृति, लोकविश्वास, प्रकृति–अनुभूति और सामुदायिक जीवन का सबसे सशक्त संप्रेषण माध्यम उसके लोकगीत हैं। पर्वतीय जीवन की कठिनाइयाँ, ऋतुओं के साथ बदलती जीवन–लय, कृषि आधारित गतिविधियाँ, लोकरीतियाँ, पर्व–त्योहारकृइन सबका सुन्दर और जीवंत चित्रण गढ़वाली लोकगीतों में मिलता है। विशेष रूप से ऋतु–गीत, प्रकृति के चित्त–विकास, मानवीय संवेदना और पारिस्थितिक सामंजस्य की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हैं।

बीज शब्द– गढ़वाली लोकगीत, प्रकृति–वर्णन, ऋतु–गीत, लोकपरंपरा, पारिस्थितिकी, पर्यावरणीय चेतना, सहजीवन, पर्वतीय जीवन, गढ़वाल संस्कृति।

प्रस्तावना

गढ़वाली लोकसंगीत का मूल आधार प्रकृति है। यहाँ की भौगोलिक संरचना के तत्त्व यथा– ऊँचे–नीचे पर्वत, हिमालयी शृंखलाएँ, नदी–गधेरे, घाटियाँ और वन लोकजीवन की लय को निर्धारित करते हैं। इसलिए लोकगीतों में प्रकृति वर्णन केवल सौंदर्य–बोध नहीं, बल्कि जीवन का अनिवार्य आधार बनकर उपस्थित होता है। हिमालय के लोकगीतों में पर्वतीय प्रकृति अनेक रूपों में प्रकट होती है। यहाँ के लोगों के जीवन में प्रकृति केवल दृश्य नहीं, बल्कि उनकी दिनचर्या, भावनाओं और सांस्कृतिक परंपराओं का अभिन्न हिस्सा है। भारतीय समाज में प्रकृति के प्रति आत्मीयता और उसका मानवीकरण बहुत प्राचीन परंपरा है, जिसका प्रारंभ वैदिक काल से माना जाता है। ऋषियों ने वायु, जल, अग्नि, पर्वत और वन को केवल प्राकृतिक तत्व न मानकर जीवंत शक्ति के रूप में अनुभव किया। यही प्रकृति–भाव आगे चलकर हिमालयी क्षेत्रों में और भी अधिक विकसित हुआ, क्योंकि वहाँ मनुष्य का जीवन प्रकृति पर निर्भर होकर ही चलता है।

गढ़वाली काव्य के उद्‌भव एवं विकास में लोकगीतों का योगदान अति महत्वपूर्ण है। बिना इनके हम लौकिक गढ़वाली पद्य साहित्य की कल्पना भी नहीं कर सकते। यद्यपि लोकगीतों के भी कोई न कोई रचनाकार तो रहे ही होंगे। किन्तु यह एक अबूझ पहेली की तरह है कि बूझाये न बने। विद्वानों ने गढ़वाली लोकगीतों को गढ़वाली आधुनिक साहित्य का प्राण माना है। गढ़वाली के महान रचनाकारों तारादत्त गैरोला, भजन सिंह शसिंहश, अबोधबन्धु बहुगुणा, डॉ० गोविन्द चातक, नरेन्द्र सिंह नेगी आदि ने लोकगीतों को लोकाभिव्यक्ति का सरल व सशक्त माध्यम बताया है। उनकी सर्वग्राह्यता व सम्प्रेषणीयता अत्यन्त प्रभावी बताई है क्योंकि लोकगीतों में मजबूत शिल्प के साथ उत्कृष्ट काव्य सौन्दर्य पाया जाता है। जिसके कारण उनका भाव व कला पक्ष उत्तम कोटि का दिखाई देता है। यही कारण है कि वे हजारों सालों से आज भी उसी तरह गाये जा रहे हैं।

पर्वतीय जीवन में मानव और प्रकृति के बीच कोई कठोर सीमा नहीं होती। दोनों एक–दूसरे में घुले–मिले दिखाई देते हैं। मनुष्य को अपनी आशा, भय, मेहनत, उत्सव और दुख–सब कुछ प्रकृति के साथ साझा करना पड़ता है। यही कारण है कि वहाँ प्रकृति केवल वर्णन का विषय नहीं रहती, बल्कि अनुभूति का आधार बन जाती है। फलस्वरूप लोकगीतों में प्रकृति के प्रति भावनात्मक समानता और पारस्परिक निकटता के अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिमालय की घाटियों में ऋतुओं के आने–जाने से जुड़े कई त्योहार, लोक–परंपराएँ और गीत विकसित हुए हैं, जो मनुष्य और प्रकृति के संपर्क का सुंदर प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। वर्षा के आगमन पर गाँवों की प्रसन्नता, बसंत के खिलते फूलों के साथ जुड़ी उमंग, शरद की फसल का उल्लास और शीत ऋतु की कठिनाइयाँ ये सब लोकगीतों में संवेदना बनकर उतरते हैं। इसी भाव–परंपरा से गढ़वाली, कुमाऊँनी और पूरे हिमालय क्षेत्र में ऋतु–गीतों की समृद्ध परंपरा विकसित हुई जो प्रकृति और मनुष्य के सहजीवी संबंध का सजीव प्रमाण है।

ऋतु–गीतों की परंपरा

ऋतु–गीतों की परंपरा भारतीय साहित्य और लोक–संस्कृति दोनों में अत्यन्त प्राचीन रही है। भारतीय काव्य–प. रंपरा में ऋतुओं को सदैव जीवन और प्रकृति के परिवर्तनशील रूपों के प्रतीक के रूप में देखा गया है। साहित्य की मुख्य धारा में प्रकृति वर्णन के दौरान ऋतु–वर्णन का विधान मिलता है जिसमें कवियों ने बसंत, वर्षा, शरद् और हेमंत के सौंदर्य, प्रभाव और मनोभावों का अत्यंत सूक्ष्म और सजीव चित्रण किया है। किंतु ऋतु–वर्णन की यह साहित्यिक परंपरा केवल शास्त्रीय काव्य तक सीमित न रही; इसके मूल में वह लोक–जीवन है जहाँ प्रकृति के साथ मनुष्य के अंतरंग संबंध ने ऋतु–गीतों का जन्म दिया।

वास्तव में शास्त्रीय काव्य में विकसित ऋतुकाव्य की धारा लोकगीतों और ऋतु–उत्सवों से ही प्रेरित होकर प्रवा. हित हुई प्रतीत होती है। ऋतु–पर्व, ऋतु–आचरण और प्रकृति के साथ जुड़ी लोक–रीतियाँ सदियों से जन–मानस में रची–बसी थीं और इन्हीं के आधार पर ऋतुकाव्य की काव्य–संरचना विकसित हुई। यही कारण है कि ऋतु–गीतों और शास्त्रीय ऋतुकाव्य में कई मूलभूत समानताएँ मिलती हैं, जैसे– प्रकृति का मानवीकरण, ऋतुओं और मानवीय भावों का अंतर्संबंध, तथा बसंत और वर्षा जैसी ऋतुओं का प्रेम, उल्लास, विरह और आशा से जुड़ जाना।

बसंत जीवन में उठते यौवन और दाम्पत्य सुख का प्रतीक है। इसीलिये लोग जीवन में, वन और आगन में उसका श्रामत्रण करते हैं। गढ़वाल के कई भागो में वसत पंचमी के अवसर पर जो को हरियालो बाटते हुए वसन्त

के स्वागत और शोभा के गीत घर–घर में गाये जाते हैं। चौत के महीने भर कुमारी कन्यायें फ्यूली के फूल चुनकर सुबह सुबह घर की देहलियों पर डाल जाती हैं और वसंत के स्वागत में वासंती गीत गाती हैं।

इन गीतों में मुख्यतः वृक्ष और लताओं के मुकुलित होने तथा फूलों के खिलने का ही वर्णन होता है। पक्षियों में कफू और फूलो मैं फ्यूली को लोक हृदय में बड़ी आत्मीयता मिली है। कफ्रू वसन्त को प्रथम ध्वनि लेकर आता है और फ्यूली वसन्त के प्रारम्भ में ही खिल उठतो है। फ्यूली में तापस सौदर्य की गरिमा और अपने सौंदर्य को अपने में ही संचित कर भोगने की एकातिक साधना है। पहलो हो दृष्टि में उसे देखकर हृदय में एक टीस–सी उठती है। बात है भी ऐसी है– उसके पिछले जीवन के साथ एक राजकुमारी के करुण अवसान की कथा संबद्ध है, जिसे औजी लोग इस अवसर पर गाते हैं।

वस्तुतः गढवाली लोक जीवन में फूलों के प्रति एक ममतामयी आत्मीयता व्यक्त हुई है। वहां का मानव उन्हें अपने ही कुटुम्बियों के रूप में देखने का अभ्यासी है। उनके प्रति एक कोमल ममता ही वासंती, झुमैलो और खुदेड़ गीतों में अनेक रूपों में व्यक्त हुई है। खुदेड़ गीतों में तो प्रकृति मनुष्य के सुख.दुख की सहयोगिनो बनकर आई है। प्रकृति का यह रूप धन्य है, जिसे मानव की इतनी आत्मीयता प्राप्त हुई है।

ऋतु–गीतों में मानव–भावना और प्रकृति–अनुभूति की यह एकता एक सांस्कृतिक सत्य की तरह उभरती है। लोकगीतों में ऋतुओं का आगमन केवल मौसम का परिवर्तन नहीं, बल्कि जीवन के नए चक्रों का प्रारंभ है। इसीलिए बसंत का आगमन नवजीवन का प्रतीक बन जाता है; वर्षा धरती की प्यास बुझाने के साथ प्रेम और विरह का रूपक बनती है; वहीं शरद फसल की समृद्धि और संतोष का द्योतक है। ऋतुओं के इस सांस्कृतिक अर्थ और भावनात्मक विस्तार ने लोकगीतों को केवल गीत न रहकर जीवन–अनुभूति की संहिता बना दिया।

आई रितुड़ी रे सुणमुणया रे
आई गयो बालो वसन्त रे।
फूलण लैगी गाड् की फ्योंलडी,
फूली जालू डांडू बुरांस।
बुरांस दादू तू बडू उतौलू रे,
औरू फूलू तू फूलण नी देन्दो।
जाति को खास ठकरौल,
बास तेरी कै देवन हरे।

अर्थात् वसन्त रूपी बालक आ गया है। नदी के तटों की फ्यूंली फूलने लगी है, शिखरों पर अब बुरांस फूलने लगेगा। बुरांस भैय्या, तू बड़ा उतावला है और फूलों को तू अपने से पहले फूलने ही नहीं देता। तू जाति का खास ठाकुर है, तेरी सुगन्ध किस देवता ने हर ली है?

प्रस्तुत ऋतु–गीत में वसंत के आगमन को अत्यंत आत्मीयता और मानवीकरण के माध्यम से चित्रित किया गया है, जिससे पर्वतीय समाज की प्रकृति–निष्ठ संवेदना स्पष्ट रूप से उजागर होती है। गीत में वसंत को "बालो वसन्त" कहकर संबोधित किया गया है, जिससे वह एक चंचल, नवयौवन से भरे बालक के रूप में उभरता है। यह लोक–परंपरा में प्रकृति के मानवीकरण की उस गहरी भावना को प्रकट करता है, जिसमें ऋतुएँ केवल मौसम नहीं, बल्कि जीवंत पात्र होती हैं। वसंत का आगमन होते ही नदी–तटों की "फ्योंलड़ी" खिलने लगती है और पहाड़ी ढलानों पर बुरांस के लाल पुष्पों का रंग बिखरने लगता है। यह दृश्य हिमालयी भू–परिस्थितिकी के उस क्रमिक ऋतु–परिवर्तन की ओर संकेत करता है, जिसमें प्रकृति नीचे की घाटियों से लेकर पर्वतीय शिखरों तक अपना रंग. –रूप बदलती है। गीत में बुरांस को "दादू" कहकर पुकारा गया है, जो लोक–मानस में पौधों को परिवार के सदस्य के समान अपनाने की परंपरा का सुंदर उदाहरण है। बुरांस का "उतावला" होना और अन्य फूलों को "फूलण नी देन्दो" कहना एक सांकेतिक चित्रण है, जो पर्वतीय वनों में बुरांस के वर्चस्व तथा उसके सौंदर्य–प्रभुत्व को दर्शाता है। आगे चलकर उसे "जाति को खास ठकरौल" कहा गया है, जिससे वह एक कुलीन, गौरवशाली और विशिष्ट वनस्पति–चरित्र के रूप में उभरता है। यह प्रकृति को सामाजिक संरचना और मानवीय पदानुक्रम से जोड़ने की लोक–काव्यात्मक प्रवृत्ति को रेखांकित करता है। अंतिम पंक्ति "बास तेरी कै देवन हरे?" बुरांस की सुगंध को देवत्व से जोड़कर उसकी पवित्रता और अलौकिकता को व्यक्त करती है। संपूर्ण गीत पर्वतीय समाज की प्रकृति–निष्ठ जीवन–दृष्टि, ऋतु–संवेदनाओं और जैव–पर्यावरण के निकट संबंधों को प्रकट करता है, जहाँ प्रकृति के प्रत्येक परिवर्तन को मनुष्य गहराई से अनुभव करता है और उसे अपने भाव–लोक में सजीव रूप में स्थान देता है।

चौती गीतों में बारहमासा का मुख्यतः ऋतु वर्णन पाया जाता है। विविध ऋतुओं के आगमन पर प्राकृतिक सुषमा का वर्णन, अपने प्रियजन से मिलने की आस, उत्कण्ठा, व्याकुल छटपटाहट आदि भावनाएँ व्यक्त की जाती हैं। ऐसे ही एक कारुणिक गीत में एक युवती उलाहना देती कहती है– बारह महीने बीत गये हैं। मेरी दयनीय दशा हो गयी है किन्तु मेरा प्रियतम लौटकर नहीं आया–

बारा मैनौ की बारामासी गाई
घघरी चिरेकी घुङ्यूं मा आई
ऋतु बौड़ी ऐगी स्वामी चौत मास
मी थैं इखरि स्वामी तुमारि आस।

मध्य हिमालय विशेषतः गढ़वाल, कुमाऊँ, रवाई, जौनसार–बावर और हिमाचली पर्वतीय अंचल में ऋतु–पर्वों की विविध परंपराएँ अत्यंत लोकप्रिय रही हैं। इन पर्वों का संबंध सीधा–सीधा बसंत, वर्षा और शरद जैसी प्रमुख ऋतुओं से है। पर्वतीय जीवन का प्राकृतिक चक्र कृषि, पशुपालन, जलस्रोतों और वनस्पतियों पर आधारित है, इसलिए ऋ तु–परिवर्तन लोकजीवन में गहरे प्रभाव डालता है। इसी प्रभाव से ऋतु–पर्वों और ऋतु–गीतों की परंपरा स्वाभाविक रूप से विकसित हुई। इनमें बसंत का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। हिमालयी प्रदेशों में बसंत केवल एक ऋतु नही, बल्कि सौंदर्य, नवजीवन और उत्सव का महीना है। इसी कारण उसके गीत पूरे क्षेत्र में अलग–अलग नामों से गाये जाते हैं, यथा– रवाई क्षेत्र में "वसंती", गढ़वाल के अन्य भागों में "चौती", "झुमैलो", "खुदेड़" इत्यादि। गढ़वाल क्षेत्र में वसंत–गीत चार प्रमुख नामों से प्रसिद्ध हैं– बासंती, झुमैलो, खुदेड़ गीत और चौती। बासंती गीत वसंत की शोभा, वनों के पुष्प–विकास, बुराँश की लाली, खेतों में सरसों की पीली आभा और पहाड़ी जीवन में लौटते उत्साह का काव्यात्मक रूप हैं। लोक–जीवन में वसंत यौवन, उत्साह और नव–ऊर्जा का प्रतीक माना जाता है; इसी कारण बासंती गीतों में दाम्पत्य सुख, प्रेम, मिलन और नवसृजन की भावनाएँ विशेष रूप से व्यक्त होती हैं।

बसंत के स्वागत का यह उल्लास केवल गीतों तक सीमित नहीं रहता; पूरा महीना एक त्योहार की तरह मनाया जाता है। गढ़वाल–कुमाऊँ में इस पर्व को "फूलदेई" कहा जाता है, जबकि जौनसार–बाबर क्षेत्र में "गोगा" नाम से जाना जाता है। फूलेरा, फुलहार, फूलधोली जैसे नामों से यह त्योहार गढ़वाल में प्रसिद्ध है। हिमाचल प्रदेश में यही पर्व "फुलाईच" कहलाता है। सभी क्षेत्रों में इसका स्वरूप लगभग समान है। बच्चे और युवा फूलों के साथ घर–घर जाकर शुभकामनाएँ देते हैं, प्रकृति के नवजीवन का स्वागत होता है और बसंत की अगवानी गीतों के माध्यम से की जाती है। इन वसंत–गीतों और ऋतु–पर्वों से स्पष्ट होता है कि हिमालय के लोग ऋतुओं को केवल मौसमी घटना नहीं मानते, बल्कि उन्हें अपने जीवन का सक्रिय सहभागी समझते हैं। प्रकृति के प्रति सम्मान, उसके साथ एकात्मता और हर ऋतु को एक सांस्कृतिक अनुभव की तरह मनाने की यह परंपरा लोकजीवन की मूल आत्मा है। ऋतु–गीतों के माध्यम से न केवल प्रकृति के रंग और रूप प्रकट होते हैं, बल्कि हिमालयी समाज की भावनाएँ, संबंध, त्योहार, श्रम–संस्कृति और सामुदायिक जीवन भी साकार हो उठता है।

झुमैलो लोकगीत भी बसंत ऋतु के आगमन पर थड्या गीतों की तरह गाए जाते हैं। जब गेहूं पकने लगती है खेतों में सरसों के फूल खिल जाते हैं निचले स्थानों से वर्फ पिघल कर के ऊचे पर्वतों तक रह जाती है इसके साथ में जो पेड़ पतझड़ में सूखे ठूंठ की तरह बन गए थे उन पर नई–नई कलियां खिलने लग जाती हैं फूलों के साथ एक हरियाली की बयार आ जाती है। प्रकृति की इस सुन्दरता को झुमैलो गीतों के माध्यम से मुक्त कंठ से गाया गया है। कुछ झुमैलो गीत इस प्रकार हैं–

आई गेन ऋतु बौड़ीश दॉई जनो फेरो, झुमैलो
ऊबाश देसी ऊबा जाला, ऊँदाश देसी ऊँदा, झुमैलो
लम्बी–लम्बी पुंगड्यों माँ, रअ् –रअ् शब्द होलो, झुमैलो

झुमैलो गीतों में प्रकृति के विभिन्न अंगों का बड़ी ही आत्मीयता से वर्णन किया गया है। बदरी झुमैलो इसका सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है–

बालो छ बदरी, झुमैलो
परवत आई, झुमैलो
गढ़वाल आई, झुमैलो
दिनु का दाता, झुमैलो
राजा का सामी, झुमैलो

अर्थात् बदरी बालक है झुमैलो, वह पर्वत पर आ गया झुमैलो, वह गढ़वाल में आ गया झुमैलो, वह दीनों का दाता है झुमैलो, वह राजा का स्वामी है झुमैलो।

झुमैलो गीतों में प्रकृति का जो आत्मीय और प्रतीकात्मक चित्र उभरता है, वह गढ़वाली लोकसंस्कृति की पर्यावरण–चेतना को समझने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उद्धृत पंक्तियों में बादल ("बदरी") को बालक, दाता और स्वामी के रूप में संबोधित करना केवल काव्यात्मक संकेत नहीं, बल्कि पर्वतीय जीवन में बादल की अनिवार्यता और पर्यावरणीय महत्ता का सांस्कृतिक रूपान्तरण है। गढ़वाल का भौगोलिक परिदृश्य ऊँचे पहाड़ों, गहरी घाटियों, तिरछे ढालों और सीमित जल–संसाधनों पर आधारित है। ऐसे भू–पर्यावरण में बादल और वर्षा जीवन का मूल आधार हैं। झुमैलो गीतों में "बदरी आई झुमैलो" के उच्चारण के साथ जो हर्ष व्यक्त होता है, वह इस तथ्य को दर्शाता है कि वर्षा पर्वतीय समाज के लिए अस्तित्व, आजीविका और सांस्कृतिक स्थिरता की सुनिश्चितकर्ता है। पर्वतीय क्षेत्रों में नदियाँ, गाड़–गदेरे, झरने और लघु जलधाराएँ वर्षा पर ही निर्भर रहती हैं। बादलों का आगमन जल–चक्र की सक्रियता का संकेत है। गढ़वाल के गाँवों में खेतों की सिंचाई, पीने का पानी और पशुपालन सभी वर्षा पर आधारित होते हैं। अतः बादल लोकमानस में जीवनदाता के रूप में प्रतिष्ठित हैं, जिसे गीत में "दीनु का दाता" कहा गया है।

गढ़वाली कृषि कुल मिलाकर वर्षा–प्रधान है। धान, झंगोरा, मडुवा, आलू तथा अन्य पारंपरिक फसलों का उत्प. ादन बादलों के आगमन पर निर्भर करता है। बादल आते ही किसान भविष्य की उपज के प्रति आश्वस्त हो जाते हैं। यही कारण है कि गीत में बादल को "राजा का सामी" अर्थात् उच्चतम सत्ता का नियन्ता कहा गया है, क्योंकि पर्वतीय कृषक–जीवन के लिए इससे अधिक शक्तिशाली कोई तत्व नहीं। बादल पहाड़ी क्षेत्र में नमी, शीतलता और जीवन–सहायक सूक्ष्म–जलवायु का निर्माण करते हैं। यह वनों, औषधीय पौधों तथा वन–आधारित जीवों के संरक्षण के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। गढ़वाल में ओक, बुरांस, देवदार, काफल जैसे वृक्ष वर्षा–सम्बद्ध वातावरण में ही फलते–फूलते हैं। बादल का पर्वतों की चोटियों पर बैठना इसी वन–पर्यावरण की पुनर्जीवन प्रक्रिया का आवश्यक अंग है। बादल न केवल वर्षा लाते हैं, बल्कि वाष्पीकरण को नियंत्रित करने, तापमान को संतुलित रखने तथा उच्च हिमालयी क्षेत्रों के हिमावरण को पोषित करने में भी सहायक हैं। ये प्रक्रियाएँ नदियों के प्रवाह, मृदा–संरक्षण और भू–संतुलन को दीर्घकालिक रूप से प्रभावित करती हैं। पर्वतीय समाज ने इस प्राकृतिक महत्ता को लोकगीतों में रूपक, संबोधन और प्रतीक–निरूपण के माध्यम से सहेजा है।

चौमासा लोकगीतों में भी प्रकृति और ऋतु चक्रों का सुंदर वर्णन प्राप्त होता है। बरसात के महीनों को चौमासा कहा जाता है। इस ऋतु में हर तरह के पेड़–पौधे, जीव–जन्तु, नदी–नाले यहाँ तक पूरी धरती हरियाली से सराबोर होती है। यह महीने किसान के लिए बहुत मेहनत वाले होते हैं। यहाँ पहाड़ों में अधिकांश पुरुष रोजी रोटी कमाने घर से बाहर होते हैं। जो कई महिनों तक घर नहीं आ पाते। इन गीतों में उनका भी चित्रण किया गया है।

भादों की अँधेरी, झकझोर।
ना बास ना बास, पापी मोर।
डुलदो तू क्यों, पापी प्राणी।
स्वामी बिना मैक, बड़ी खडरी।
विश्वासी मन जो, औंद भारी।
भादों की बरसात जग रूझ ।
मन की मेरो ना, आग बुझ।
स्वामी बिना झूठी, लाणीं खांणी।
मनु की मनुमा, रई गांणी।

बारामासा लोकगीतों में प्रकृति वर्णन के साथ–साथ विरह की प्रधानता भी मिलती है । जिनका प्रिय उनसे दर होता है या अल्पकाल में ही मृत्यु हो जाती है ऐसे में उन्हें हर महीने हर ऋतु में याद किया जाता है। इस तरह की लोक गाथाएं गीतों के साथ इस ग्रंथ में विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए रामी बौराणी, गोपीचन्द भर्तरि एक कल्पना हो सकती है परन्तु पहाड़ की कुछ नारी इस तरह की पीड़ा से गुजरी हैं। शायद उन्होंने भी इस तरह के बिरह गीत गाते हुए अश्रुधार बहाई होगी। मुझे अपनी माँ की याद है, बहुत ही सुबह जब वह मंडुवा आदि पीसने के लिए लगातार चक्की घुमाते इसी तरह के गीत पिता जी की याद में गाते रोती थी तो मैं भी अपनी पांच वर्ष की उम्र में माँ के साथ–साथ उनकी गोद में सिर रखकर रोता था। वह विरह गीत अनायस मेरा मन आज भी गुनगनाता है।

आयो मैंना चौत को, हे दीखो हे राम।
उठिक फुलारी झुसमुसश, लगी गैना निज काम
मास आय वैशाख को, सुणली पतिव्रता खास।
ग्यूँ जौ का पूलों मुड़े, कमर पड़ी गये झास
आयो मैना जेठ को, भक्का हैगे मौत।
स्वामिका नी होणते, समझि रखूं मैं मौत
मास पैलो बसगाल को, आयो अब आषाढ़।
मैं पापिणि झुरि–झुरि, मरो मास रयो न हाड़
मास दूसरो गसग्याल को, आयो अब घनघोर।
बादल कुयेड़ि झुकिगे, वर्षा लगि झकझौर
भादों मैना आइक, मन समझा यो भौत।

गढ़वाली लोकगीतों में महिलाएँ प्रकृति के साथ सबसे अधिक संवाद करती हैं। खेतों में काम करना, जल स्रोतों से पानी लाना, जंगल से लकड़ी/घास काटना, और पशुओं की देखभाल करना इन सब कार्यों ने उनके गीतों में प्रकृति को जीवंत बना दिया है। ऋतु–गीतों में स्त्रियाँ अक्सर प्रकृति से बात करती हुई प्रतीत होती हैं। बादलों से प्रियतम का संदेश पूछती हैं तो कभी बादलों की काली घटा से दर जाती है, बुराँश से सौंदर्य पाती हैं तो कहीं नदी के बहाव में अपने मनोभाव देखती हैं। यथा–

काला डांडा पछि बाबाजी काली छ कुयेड़ी
बाबाजी मैं यखुली लगदी डेर
यखुली मैन कनके की जाण विराणा विदेश?

अर्थात् काले पर्वत के पीछे पिताजी काले बाद हैं। पिताजी मुझे अकेले डर लगता है। मैं पराए देश कैसे जा. उंगी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि गढ़वाली ऋतु–गीत पारिस्थितिक चेतना के जीवित दस्तावेज़ हैं। इन गीतों में ऋतु–चक्र की वैज्ञानिक समझ, वन संरक्षण के संकेत, जलस्रोतों के महत्व, पशु–चारण नियम, कृषि परंपराएँ, और 'उतना ही लो जितना जरूरी है' का नैतिक आग्रह स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस तरह ऋतु–गीत केवल कला नहीं, बल्कि सतत् जीवन–शैली के स्रोत भी हैं। गढ़वाली लोकगीतों में प्रकृति का वर्णन सिर्फ सौंदर्य की अनुभूति नहीं, बल्कि जीवन–यथार्थ, श्रम–संस्कृति, सामुदायिक अनुभव और पारिस्थितिक दर्शन का प्रतिबिम्ब है। ऋतु–गीतों के माध्यम से प्रकृति कभी आनंद बनकर, कभी संघर्ष बनकर, कभी आशा बनकर मनुष्य के जीवन में निरंतर उपस्थित रहती है। इन गीतों का अध्ययन बताता है कि गढ़वाली समाज प्रकृति के साथ सहजीवन की अवधारणा पर आधारित है। हिमालयी पारिस्थितिकी का जो संतुलन हजारों वर्षों से बना है, वह लोकगीतों की रीढ़ है। इसलिए ऋतु–गीत न केवल सांस्कृतिक धरोहर हैं, बल्कि पर्यावरणीय चेतना के प्रामाणिक स्रोत भी हैं।

Author's Declaration:

I/We, the author(s)/co-author(s), declare that the entire content, views, analysis, and conclusions of this article are solely my/our own. I/We take full responsibility, individually and collectively, for any errors, omissions, ethical misconduct, copyright violations, plagiarism, defamation, misrepresentation, or any legal consequences arising now or in the future. The publisher, editors, and reviewers shall not be held responsible or liable in any way for any legal, ethical, financial, or reputational claims related to this article. All responsibility rests solely with the author(s)/co-author(s), jointly and severally. I/We further affirm that there is no conflict of interest financial, personal, academic, or professional regarding the subject, findings, or publication of this article.

संदर्भ–

1. बेंजवाल, बीना (संपा.), चयनित गढ़वाली पद्य, उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, 2021, पृ. 7
2. डॉ. रघुवंश, प्रकृति और काव्य (संस्कृत खंड), साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, 1951, पृ. 113
3. चातक गोविंद, गढ़वाली लोकगीत, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2025, पृ. 128
4. चातक गोविंद, गढ़वाली लोकगीत, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2025, पृ. 124
5. बेंजवाल, बीना (संपा.), चयनित गढ़वाली पद्य, उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, 2021, पृ. 8
6. जलंधरी, डॉ. बिहारीलाल, उत्तराखंड की सांस्कृतिक विरासत, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, दिल्ली, 2024, पृ. 440
7. जलंधरी, डॉ. बिहारीलाल, उत्तराखंड की सांस्कृतिक विरासत, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, दिल्ली, 2024, पृ. 441

8. जलंधरी, डॉ. बिहारीलाल, उत्तराखंड की सांस्कृतिक विरासत, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, दिल्ली, 2024, पृ. 446
9. जलंधरी, डॉ. बिहारीलाल, उत्तराखंड की सांस्कृतिक विरासत, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, दिल्ली, 2024, पृ. 447
10. शुक्ला, डॉ. शशांक एवं डॉ. राजेन्द्र कैड़ा, उत्तराखण्ड का लोक साहित्य, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, 2015, पृ. 165.

Cite this Article-

"रूपेश भट्ट", "गढ़वाली लोकगीतों में प्रकृति-वर्णनः ऋतु-गीतों के विशेष संदर्भ में" Shodhpith International Multidisciplinary Research Journal, ISSN: 3049-3331 (Online), Volume:2, Issue:03, May-June 2026

"Copyright © 2026 The Author(s). This work is licensed under Creative Commons Attribution 4.0 (CC-BY), allowing others to use, share, modify, and distribute it with proper credit to the author."